

२. अकलङ्कदेवस्य कथा

अथ श्रीजिनमानम्य सर्वसत्त्वसुखप्रदम्। वक्ष्येऽकलङ्कदेवस्य ज्ञानोद्योतनसत्कथाम् ॥१॥
 अत्रैव भारते मान्यखेटाख्यनगरे वरे। राजाऽभूच्छुभतुङ्गाख्यस्तन्मन्त्री पुरुषोत्तमः ॥२॥
 भार्या पद्मावती तस्य तयोः पुत्रौ मनःप्रियौ। सञ्जातावकलङ्काख्यनिष्कलङ्कौ गुणोज्ज्वलौ ॥३॥
 नन्दीश्वरे महाष्टम्यामेकदा परया मुदा। पितृभ्यां रविगुप्ताख्यं नत्वा भक्त्या मुनीश्वरम् ॥४॥
 गृहीत्वाऽष्ट दिनान्युच्चैर्ब्रह्मचर्यं सुशर्मदम्। क्रीडया पुत्रयोश्चापि दापितं तद्व्रतं महत् ॥५॥
 ततः कैश्चिद्विनैर्दृष्ट्वा विवाहोद्यममद्भुतम्। पुत्राभ्यां भणितस्तातः किमर्थं क्रियते त्वया ॥६॥
 परिश्रमो महानेष भो पितस्तन्निशम्य सः। भवतो सद्विवाहार्थं प्राहैवं पुरुषोत्तमः ॥७॥
 तच्छ्रुत्वा कथितं ताभ्यां किं विवाहेन भो सुधीः। आवयोर्ब्रह्मचर्यं च दापितं शर्मदं त्वया ॥८॥
 पित्रोक्तं क्रीडया वत्सौ दापितं भवतोर्मया। ब्रह्मचर्यमिति श्रुत्वा प्राहतुस्तौ विचक्षणौ ॥९॥
 धर्मे व्रते च का क्रीडा ब्रीडा वा तदनन्तरम्। सम्प्राह युवयोर्दत्तं व्रतं चाष्ट दिनानि तत् ॥१०॥

२. भट्टाकलंकदेव की कथा

मैं जीवों को सुख के देने वाले जिनभगवान् को नमस्कार करके इस अध्याय में भट्टाकलंकदेव की कथा लिखता हूँ, जो कि सम्यग्ज्ञान का उद्योत करने वाली है ॥१॥

भारतवर्ष में एक मान्यखेट नाम का नगर था। उसके राजा थे शुभतुंग और उनके मन्त्री का नाम पुरुषोत्तम था। पुरुषोत्तम की गृहिणी पद्मावती थी। उसके दो पुत्र हुए। उनके नाम थे अकलंक और निकलंक। वे दोनों भाई बड़े बुद्धिमान् गुणी थे ॥२-३॥

एक दिन की बात है कि अष्टाह्निका पर्व की अष्टमी के दिन पुरुषोत्तम और उसकी गृहिणी बड़ी विभूति के साथ चित्रगुप्त मुनिराज की वन्दना करने को गए साथ में दोनों भाई भी गए। मुनिराज की वन्दना कर इनके माता-पिता ने आठ दिन के लिए ब्रह्मचर्य लिया और साथ ही विनोदवश अपने दोनों पुत्रों को भी उन्होंने ब्रह्मचर्य दिला दिया ॥४-५॥

कुछ दिनों के बाद पुरुषोत्तम ने अपने पुत्रों के ब्याह की आयोजना की। यह देख दोनों भाईयों ने मिलकर पिता से कहा—पिताजी! इतना भारी आयोजन, इतना परिश्रम आप किसलिए कर रहे हैं? अपने पुत्रों की भोली बात सुनकर पुरुषोत्तम ने कहा—यह सब आयोजन तुम्हारे ब्याह के लिए है। पिता का उत्तर सुनकर दोनों भाईयों ने फिर कहा—पिताजी! अब हमारा ब्याह कैसा? आपने तो हमें ब्रह्मचर्य दिलवा दिया था न? पिता ने कहा नहीं, वह तो केवल विनोद से दिया गया था। उन बुद्धिमान् भाईयों ने कहा—पिताजी! धर्म और व्रत में विनोद कैसा? यह हमारी समझ में नहीं आया। अच्छा आपने विनोद ही से दिया सही, तो अब उसके पालन करने में भी हमें लज्जा कैसी? पुरुषोत्तम ने फिर कहा—अस्तु! जैसा तुम कहते हो वही सही, पर तब तो केवल आठ ही दिन के लिए ब्रह्मचर्य दिया

इत्याकर्ण्य पितुर्वाक्यं पुत्रौ तावूचतुः पुनः। आवयोर्न कृतौ तात मर्यादाष्ट दिनैस्तथा ॥११॥
सूरिणा भवता चापि तस्मादाजन्म निर्मलम्। ब्रह्मचर्यं व्रतं वर्थं नियमस्तु विवाहके ॥१२॥
इत्युक्त्वा सकलासारं व्यापारं परिहृत्य च। नाना शास्त्राण्यधीतानि ताभ्यां भक्त्या बहूनि वै ॥१३॥
तथा बौद्धमतज्ञाता मान्यखेटे न वर्तते। ततस्तस्य मतं ज्ञातुं मूर्खच्छत्रस्य रूपकम् ॥१४॥
धृत्वा ततो महाबोधिस्थानं गत्वा गुणाकरौ। बौद्धमार्गपरिज्ञातुं धर्माचार्यस्य सन्निधौ ॥१५॥
स्थितौ सोपि विजातीयं धर्माचार्यो विशोध्य च। ऊर्ध्वभूमौ परिस्थित्वा बौद्धांस्त बौद्धशास्त्रकम् ॥१६॥
नित्यं पाठयति व्यक्तं जैनधर्मरतौ च तौ। भूत्वाऽज्ञौ मातृकापाठं पठन्तौ गूढमानसौ ॥१७॥
तदाकर्णयतः स्मोच्चैरशेषं बौद्धशासनम्। एकसंस्थोऽकलङ्काख्यदेवोऽभूत्तद्विचक्षणः ॥१८॥
निष्कलङ्को द्विसंस्थश्च चित्ते तच्चिन्तयत्परम्। एवं कालं व्यतीत्यैव धर्माचार्यस्य चैकदा ॥१९॥
व्याख्यानं कुर्वतस्तस्य श्रीमज्जैनेन्द्रभाषिते। सप्तभङ्गीमहावाक्ये कूटत्वात्संशयोऽजनि ॥२०॥
व्याख्यानमथ संवृत्य व्यायामे स गतस्तदा। शुद्धं कृत्वाशु तद्वाक्यं धृतवानकलङ्काक् ॥२१॥
बौद्धानां गुरुणागत्य दृष्ट्वा वाक्यं सुशोधितम्। अस्ति कश्चिज्जिनाधीशशासनाम्भोधिचन्द्रमा ॥२२॥

था न ? दोनों भाइयों ने कहा—पिताजी ! हमें आठ दिन के लिए ब्रह्मचर्य दिया गया था, इसका न तो आपने हमसे खुलासा कहा था और न आचार्य महाराज ने ही। तब हम कैसे समझें कि वह व्रत आठ ही दिन के लिए था। इसलिए हम तो अब उसका आजन्म पालन करेंगे, ऐसी हमारी दृढ़ प्रतिज्ञा है। हम अब विवाह नहीं करेंगे। यह कहकर दोनों भाइयों ने घर का सब कारोबार छोड़कर और अपना चित्त शास्त्राभ्यास की ओर लगाया। थोड़े ही दिनों में वे अच्छे विद्वान् बन गए। इनके समय में बौद्धधर्म का बहुत जोर था इसलिए उन्हें उसके तत्त्व जानने की इच्छा हुई। उस समय मान्यखेट में ऐसा कोई बौद्ध विद्वान् नहीं था, जिससे वे बौद्धधर्म का अभ्यास करते। इसलिए वे एक अज्ञ विद्यार्थी का वेश बनाकर महाबोधि नामक स्थान में बौद्धधर्माचार्य के पास गए। आचार्य ने इनकी अच्छी तरह परीक्षा करके कि कहीं ये छली तो नहीं हैं और जब उन्हें इनकी ओर से विश्वास हो गया तब वे और शिष्यों के साथ—साथ उन दोनों को भी पढ़ाने लगे। वे भी अन्तरंग में तो पक्के जिनधर्मी और बाहर से एक महामूर्ख बनकर स्वर व्यंजन सीखने लगे। निरन्तर बौद्धधर्म सुनते रहने से अकलंकदेव की बुद्धि बड़ी विलक्षण हो गई, उन्हें एक ही बार के सुनने से कठिन से कठिन बात भी याद हो जाने लगी और निकलंक को दो बार सुनने से याद होने लगा अर्थात् अकलंक एक संस्थ और निकलंक दो संस्थ हो गए। इस प्रकार वहाँ रहते दोनों भाइयों का बहुत समय बीत गया ॥६-१९॥

एक दिन की बात है बौद्धगुरु अपने शिष्यों को पढ़ा रहे थे। उस समय प्रकरण था, जैनधर्म के सप्तभंगी सिद्धान्त का। वहाँ कोई अशुद्ध पाठ आ गया, जो बौद्धगुरु की समझ में न आया, तब वे अपने व्याख्यान को वहीं समाप्त कर कुछ समय के लिए बाहर चले आए। अकलंक बुद्धिमान् थे, वे बौद्धगुरु के भाव समझ गए; इसलिए उन्होंने बड़ी बुद्धिमानी के साथ उस पाठ को शुद्ध कर दिया और उसकी खबर किसी को न होने दी। इतने में पीछे बौद्धगुरु आए। उन्होंने अपना व्याख्यान आरम्भ

अस्माकं मतविध्वंसी बौद्धवेषेण धूर्तकः। अस्मच्छस्त्रं पठन्सोऽत्र संशोध्यैवाशु मार्यताम् ॥२३॥
 इत्युक्त्वा शोधितास्तेन ते सर्वे शपथादिना। पुनः संकारिता जैनबिम्बस्योल्लङ्घनं तथा ॥२४॥
 तदाकलङ्कदेवेन चातुर्याद् गुणशालिना। प्रतिमोपरि संक्षिप्त्वा सूत्रं संसूत्रवेदिना ॥२५॥
 इयं सावरणा मूर्तिः कृत्वा संकल्पनं हृदि। तस्या उल्लङ्घनं चक्रे ततो जैनमजानता ॥२६॥
 कांस्योद्भवानि तेनोच्चैर्भाजनानि बहूनि च। गोण्यां निक्षिप्य बौद्धानां शयनस्थानसन्निधौ ॥२७॥
 एकैकं स्थापयित्वा च स्वकीयं चरमानुषम्। वन्दकं प्रति तान्येव दूरादुद्धृत्य वेगतः ॥२८॥
 निक्षिप्तानि ततो रात्रौ विद्युत्यातोपमे खगात्। समुत्थितेऽकलंकाख्यनिष्कलङ्कौ कलस्वनौ ॥२९॥
 सारं पञ्चनमस्कारं स्मरन्तावुत्थितौ तदा। धृत्वा तौ तत्समीपे च नीत्वाप्यालपितं चरैः ॥३०॥
 आदेशं देहि देवैतौ धूर्तौ जैनमतोत्तमौ। इति श्रुत्वा जगौ सोपि बौद्धेशो दुष्टमानसः ॥३१॥
 धृत्वा सप्तमभूभागे पश्चाद्रात्रौ कुमारकौ। मार्यतामिति तौ तत्र नीत्वा च स्थापितौ तकैः ॥३२॥

किया। जो पाठ अशुद्ध था, वह अब देखते ही उनकी समझ में गया। यह देख उन्हें सन्देह हुआ कि अवश्य इस जगह कोई जिनधर्मरूप समुद्र का बढ़ाने वाला चन्द्रमा है और वह हमारे धर्म के नष्ट करने की इच्छा से बौद्धवेष धारण कर बौद्धशास्त्र का अभ्यास कर रहा है। उसका जल्दी ही पता लगाकर उसे मरवा डालना चाहिए। इस विचार के साथ ही बौद्धगुरु ने सब विद्यार्थियों को शपथ, प्रतिज्ञा आदि देकर पूछा, पर जैनधर्मी का पता उन्हें नहीं लगा। इसके बाद उन्होंने जिनप्रतिमा मँगवाकर उसे लाँघ जाने के लिए सबको कहा। सब विद्यार्थी तो लाँघ गए, अब अकलंक की बारी आई; उन्होंने अपने कपड़े में से एक सूत का सूक्ष्म धागा निकालकर उसे प्रतिमा पर डाल दिया और उसे परिग्रही समझकर वे झट से लाँघ गए। यह कार्य इतनी जल्दी किया गया कि किसी की समझ में न आया। बौद्धगुरु इस युक्ति में भी जब कृतकार्य नहीं हुए, तब उन्होंने एक और नई युक्ति की। उन्होंने बहुत से काँसे के बर्तन इकट्ठे करवाए और उन्हें एक बड़ी भारी गौन में भरकर वह बहुत गुप्त रीति से विद्यार्थियों के सोने की जगह के पास रखवा दी और विद्यार्थियों की देखरेख के लिए अपना एक-एक गुप्तचर रख दिया ॥२०-२८॥

आधी रात का समय था। सब विद्यार्थी निडर होकर निद्रादेवी की गोद में सुख का अनुभव कर रहे थे। किसी को कुछ मालूम न था कि हमारे लिए क्या-क्या षड्यन्त्र रचे जा रहे हैं। एकाएक बड़ा विकराल शब्द हुआ। मानों आसमान से बिजली टूटकर पड़ी। सब विद्यार्थी उस भयंकर आवाज से काँप उठे। वे अपना जीवन बहुत थोड़े समय के लिए समझकर अपने उपास्य परमात्मा का स्मरण कर उठे। अकलंक और निकलंक भी पंच नमस्कार मंत्र का ध्यान करने लग गए। पास ही बौद्धगुरु का जासूस खड़ा हुआ था। वह उन्हें बुद्ध भगवान् का स्मरण करने की जगह जिन भगवान् का स्मरण करते देखकर बौद्धगुरु के पास ले गया और गुरु से उसने प्रार्थना की। प्रभो! आज्ञा कीजिए कि इन दोनों धूर्तों का क्या किया जाये? ये ही जैनी हैं। सुनकर वह दुष्ट बौद्धगुरु बोला—इस समय रात थोड़ी बीती है, इसलिए इन्हें ले जाकर कैदखाने में बन्द कर दो, जब आधी रात हो जाये तब इन्हें मार डालना। गुप्तचर ने दोनों भाइयों को ले जाकर कैदखाने में बन्द कर दिया ॥२९-३२॥

निष्कलङ्कस्तदा प्राह भो धीमन्नकलङ्कवाक् । अस्माभिर्गुणरत्नानि भ्रातश्चोपार्जितानि वै ॥३३॥
दर्शनस्योपकारस्तु विहितो नैव भूतले । वृथा मरणमायातं तच्छ्रुत्वा ज्येष्ठबान्धवः ॥३४॥
जगादैवं महाधीरो मा विसूरय धीधनं । उपायो जीवितस्यायं विद्यते कोपि साम्प्रतम् ॥३५॥
इदं छत्रं करे धृत्वा क्षिप्त्वात्मानं सुयन्ततः । गत्वा भूमौ च यास्यावः स्वस्थानं वेगतः सुधी ॥३६॥
इत्यालोच्य विधायोच्चैस्तत्सर्वं निर्गतौ च तौ । अर्धरात्रे गते यावन्मारणार्थं दुराशयैः ॥३७॥
अन्वेषितौ तदा नैव दृष्टौ तौ पत्तने ततः । वापिकूपतडागादौ संशोध्य प्राप्य ते पुनः ॥३८॥
अश्वारूढाः सुपापिष्ठाः कष्टाः सम्मारणेच्छया । दयावल्लीदवस्पृष्टाः पृष्ठतो निर्गतास्तयोः ॥३९॥
उच्छलद्भूलिमालोक्य ज्ञात्वा तान्प्राणलोलुपान् । निष्कलङ्केऽवदद्भीरो भो भ्रातस्त्वं विचक्षणः ॥४०॥

अपने पर एक महाविपत्ति आई देखकर निकलंक ने बड़े भाई से कहा—भैया! हम लोगों ने इतना कष्ट उठाकर तो विद्या प्राप्त की, पर कष्ट है कि उसके द्वारा हम कुछ भी जिनधर्म की सेवा न कर सके और एकाएक हमें मृत्यु का सामना करना पड़ा। भाई की दुःखभरी बात सुनकर महाधीर-वीर अकलंक ने कहा—प्रिय! तुम बुद्धिमान् हो, तुम्हें भय करना उचित नहीं। घबराओ मत। अब भी हम अपने जीवन की रक्षा कर सकेंगे। देखो मेरे पास यह छत्री है, इसके द्वारा अपने को छुपाकर हम लोग यहाँ से निकल चलते हैं। अभी हम शीघ्र ही अपने स्थान पर जा पहुँचते हैं। यह विचार करके दोनों भाई दबे पाँव निकल गए और जल्दी-जल्दी रास्ता तय करने लगे ॥३३-३७॥

इधर जब आधी रात बीत चुकी और बौद्धगुरु की आज्ञानुसार उन दोनों भाइयों के मारने का समय आया; तब उन्हें पकड़ लाने के लिए नौकर लोग दौड़ाए गए, पर वे कैदखाने में जाकर देखते हैं तो वहाँ कोई भी नहीं। सभी को उनके एकाएक गायब हो जाने से बड़ा आश्चर्य हुआ। पर कर क्या सकते थे। उन्हें उनके कहीं आस-पास ही छुपे रहने का सन्देह हुआ। उन्होंने आस-पास के वन, जंगल, खंडहर, बावड़ी, कुँए, पहाड़, गुफाएँ आदि सब एक-एक करके ढूँढ़ डाले, पर उनका कहीं पता न चला। उन पापियों को तब भी सन्तोष न हुआ सो उनको मारने की इच्छा से अश्व द्वारा उन्होंने यात्रा की। उनकी दयारूपी बेल क्रोधरूपी दावाग्नि से खूब ही झुलस गई थी, इसीलिए उन्हें ऐसा करने को बाध्य होना पड़ा। दोनों भाई भागते जाते थे और पीछे फिर-फिर कर देखते जाते थे कि कहीं किसी ने हमारा पीछा तो नहीं किया है। पर उनका सन्देह ठीक निकला, दूर तक देखा तो उन्हें आकाश में धूल उठती हुई दिखाई पड़ी। निकलंक ने बड़े भाई से कहा—भैया! हम लोग जितना कुछ करते हैं, वह सब निष्फल जाता है। जान पड़ता है दैव ने अपने से पूर्ण शत्रुता बाँधी है। खेद है परम पवित्र जिनशासन की हम लोग कुछ भी सेवा न कर सके और मृत्यु ने बीच ही में आकर धर दबाया। भैया! देखो, तो पापी लोग हमें मारने के लिए पीछा किए चले आ रहे हैं। अब रक्षा होना असंभव है। हाँ, मुझे एक उपाय सूझ पड़ा है उसे आप करेंगे तो जैनधर्म का बड़ा उपकार होगा। आप बुद्धिमान् हैं, एक संस्थ है। आपके द्वारा जैनधर्म का खूब प्रकाश होगा। देखते हैं—वह सरोवर है। उसमें बहुत

एकसंस्थो महाप्राज्ञो दर्शनोद्यतनश्रिये। एतस्मिन्यद्विनीषण्डमण्डिते सुसरोवरे ॥४१॥
 संप्रविश्य निजात्मानं रक्षत क्षतकल्मष। मार्गे मां वीक्ष्य गच्छन्तं हन्त्वैते यान्तु पापिनः ॥४२॥
 ततस्तद्वचनेनैव सखेदं सोऽकलङ्कवाक्। तत्रस्थितः प्रविश्योच्चैः के धृत्वा पद्मिनीदलम् ॥४३॥
 न चक्रे केवलं तेन शरण्यं पद्मपत्रकम्। अनन्यशरणीभूतं शासनं च जिनेशिनाम् ॥४४॥
 निष्कलङ्कस्तु नश्यन्सन्पृष्टोऽसौ रजकेन च। वस्त्रप्रक्षालनं कर्म कुर्वता गगनोद्गताम् ॥४५॥
 धूर्लीं विलोक्य भीतेन किमेतदिति सोऽवदत्। शत्रुसैन्यं समायाति यन्नरं पश्यति ध्रुवम् ॥४६॥
 तं हन्ति पापकृद्वाढं तेन सन्नश्यते मया। तच्छ्रुत्वा रजकः सोपि सार्धं तेनैव नष्टवान् ॥४७॥
 ततस्ते पापिनो धृत्वा नश्यन्तौ तौ सुनिदर्यम्। हत्वा तयोः शिरोयुग्मं मादाय गृहमागताः ॥४८॥
 किं न कुर्वन्ति भो लोके पापाय पापपण्डिताः। जिनधर्मविनिर्मुक्ता मिथ्यात्वविषदूषिताः ॥४९॥
 येषां श्रीमज्जिनेन्द्राणां धर्मः शर्मशतप्रदः। लेशतोऽपि न हृत्कोशे तेषां का करुणाकथा ॥५०॥

से कमल हैं। आप जल्दी जाइए और तालाब में उतरकर कमलों में अपने को छुपा लीजिए। जाइए, जल्दी कीजिए; देरी का काम नहीं है। शत्रु पास पहुँचे आ रहे हैं। आप मेरी चिन्ता न कीजिए। मैं भी जहाँ तक बन पड़ेगा, जीवन की रक्षा करूँगा और यदि मुझे अपना जीवन देना भी पड़े तो मुझे उसकी कुछ परवाह नहीं, जबकि मेरा प्यारा भाई जीवित रहकर पवित्र जिनशासन की भरपूर सेवा करेगा। आप जाइए भैया! मैं अब यहाँ से भागता हूँ ॥३८-४२॥

अकलंक की आँखों से आँसुओं की धार बह चली। उनका गला भ्रातृप्रेम से भर आया। वे भाई से एक अक्षर भी न कह पाए कि निकलंक वहाँ से भाग खड़ा हुआ। लाचार होकर अकलंक को अपने जीवन की नहीं, पवित्र जिनशासन की रक्षा के लिए कमलों में छुपना पड़ा। उनके लिए कमलों का आश्रय केवल दिखाऊ था। वास्तव में तो उन्होंने जिसके बराबर संसार में कोई आश्रय नहीं हो सकता, उस जिनशासन का आश्रय लिया था ॥४३-४४॥

निकलंक भाई से विदा हो, जी छोड़कर भागा जा रहा था, रास्ते में उसे एक धोबी कपड़े धोते हुए मिला। धोबी ने आकाश में धूल की घटा छाई हुई देखकर निकलंक से पूछा, यह क्या हो रहा है? और तुम ऐसे जी छोड़कर क्यों भागे जा रहे हो? निकलंक ने कहा—पीछे शत्रुओं की सेना आ रही है। उन्हें जो मिलता है उसे ही वह मार डालती है इसीलिए मैं भागा जा रहा हूँ। ऐसा सुनते ही धोबी भी कपड़े वगैरह सब वैसे ही छोड़कर निकलंक के साथ भाग खड़ा हुआ। वे दोनों बहुत भागे, पर आखिर कहाँ तक भाग सकते थे? सवारों ने उन्हें धर पकड़ा और उसी समय अपनी चमचमाती हुई तलवार से दोनों का शिर काटकर वे अपने मालिक के पास ले गए। सच है पवित्र जिनधर्म अहिंसा धर्म से रहित मिथ्यात्व को अपनाए हुए पापी लोगों के लिए ऐसा कौन महापाप बाकी रह जाता है, जिसे वे नहीं करते। जिनके हृदय में जीवमात्र को सुख पहुँचाने वाले जिनधर्म का लेश भी नहीं है, उन्हें दूसरों पर दया आ भी कैसे सकती है? ॥४५-५०॥

ततोऽकलङ्कदेवोऽसौ विनिर्गत्य सरोवरात्। मार्गे गच्छन् जिनेन्द्रोक्ततत्त्वविनिर्गच्छलाशयः ॥५१॥
 कलिङ्गविषये रत्नसंचयाख्यं पुरं परम्। कैश्चिद्विनैः परिप्राप्तस्तावद्वक्ष्ये कथान्तरम् ॥५२॥
 तत्र राजा प्रजाऽभीष्टो नाम्ना श्रीहिमशीतलः। राज्ञी जिनेन्द्रपादाब्जभृङ्गी मदनसुन्दरी ॥५३॥
 तथा श्रीमज्जिनेन्द्राणां स्वयं कारितमन्दिरे। फाल्गुने निर्मलाष्टम्यां रथयात्रामहोत्सवे ॥५४॥
 प्रारब्धे जिनधर्मस्य स्वर्गमोक्षप्रदायिनः। महाप्रभावनाङ्गाय नाना सत्सम्पदा मुदा ॥५५॥
 सङ्घश्री वन्दकेनोच्चैर्विद्यादर्पेण पापिना। रथयात्रा न कर्तव्या जिनेन्द्रस्य महीपते ॥५६॥
 जिनस्य शासनाभावादिति प्रोक्त्वा दुरात्मना। मुनीनां पत्रकं चापि दत्तं वादप्रकाङ्क्षया ॥५७॥
 ततश्च भूभुजा प्रोक्तं हे प्रिये जैनदर्शनम्। सामर्थ्यं दृष्ट्वाकर्तव्या यात्रा वै नान्यथा त्वया ॥५८॥
 तच्छ्रुत्वा सा सती राज्ञी भूत्वा चोद्विग्नमानसा। श्रीमज्जिनालयं गत्वा पापस्य विलयं तदा ॥५९॥
 नत्वा जगौ मुनीन्द्राणामस्माकं दर्शने बुद्धः। एतस्य वन्दकस्योच्चैः कोप्यस्ति प्रतिमल्लकः ॥६०॥
 जित्वेमं यो महाभव्यो वाञ्छितं मे करोत्यलम्। श्रुत्वेति मुनयः प्राहुर्मन्यखेटादिकेषु ते ॥६१॥

उधर शत्रु अपना काम कर वापस लौटे और इधर अकलंक अपने को निर्विघ्न समझ सरोवर से निकले और निडर होकर आगे बढ़े। वहाँ से चलते-चलते वे कुछ दिनों बाद कलिंग देशान्तर्गत रत्नसंचयपुर नामक शहर में पहुँचे। इसके बाद का हाल हम नीचे लिखते हैं ॥५१-५२॥

उस समय रत्नसंचयपुर के राजा हिमशीतल थे। उनकी रानी का नाम मदनसुन्दरी था। वह जिन भगवान् की बड़ी भक्त थी। उसने स्वर्ग और मोक्ष सुख के देने वाले पवित्र जिनधर्म की प्रभावना के लिए अपने बनवाये हुए जिनमन्दिर में फाल्गुन शुक्ल अष्टमी के दिन से रथयात्रोत्सव का आरम्भ करवाया था। उसमें उसने बहुत द्रव्य व्यय किया था ॥५३-५५॥

वहाँ संघश्री नामक बौद्धों का प्रधान आचार्य रहता था। उसे महारानी का कार्य सहन नहीं हुआ। उसने महाराज से कहकर रथयात्रोत्सव अटका दिया और साथ ही वहाँ जिनधर्म का प्रचार न देखकर शास्त्रार्थ के लिए घोषणा भी करवा दी। महाराज शुभतुंग ने अपनी महारानी से कहा-प्रिये, जब तक कोई जैन विद्वान् बौद्धगुरु के साथ शास्त्रार्थ करके जिनधर्म का प्रभाव न फैलाएगा, तब तक तुम्हारा उत्सव होना कठिन है। महाराज की बातें सुनकर रानी को बड़ा खेद हुआ। पर वह कर ही क्या सकती थी। उस समय कौन उसकी आशा पूरी कर सकता था। वह उसी समय जिनमन्दिर गई और वहाँ मुनियों को नमस्कार कर उनसे बोली-प्रभो, बौद्धगुरु ने मेरा रथयात्रोत्सव रुकवा दिया है। वह कहता है कि पहले मुझसे शास्त्रार्थ करके विजय प्राप्त कर लो, फिर रथोत्सव करना। बिना ऐसा किए उत्सव न हो सकेगा। इसलिए मैं आपके पास आई हूँ। बतलाइए जैनदर्शन का अच्छा विद्वान् कौन है, जो बौद्धगुरु को जीतकर मेरी इच्छा पूरी करे? सुनकर मुनि बोले-इधर आसपास तो ऐसा विद्वान् नहीं दिखता जो बौद्धगुरु का सामना कर सके। हाँ मान्यखेट नगर में ऐसे विद्वान् अवश्य हैं। उनके बुलाने का आप प्रयत्न करें तो सफलता प्राप्त हो सकती है। रानी ने कहा-वाह, आपने बहुत ठीक कहा, सर्प तो सिर

एतस्मादधिकाः सन्ति पण्डिता जिनशासने। किन्तु दूराः तदाकर्ण्य सुन्दरीमदनादिका ॥६२॥
 सर्पोस्ति मस्तकोपान्ते योजनानां शते भिषक्। इत्युक्त्वा श्रीजिनेन्द्राणां कृत्वा पूजां विशेषतः ॥६३॥
 राजगेहं परित्यज्य प्रविश्य जिनमन्दिरम्। सङ्घश्रीदर्पविध्वंसात्पूर्वरीत्या शुभोदयात् ॥६४॥
 यात्रा रथस्य मे पूता भविष्यति महोत्सवैः। धर्मप्रभावना चापि तदा मे भोजनादिकम् ॥६५॥
 प्रवृत्तिर्नान्यथा चेति कृत्वा चित्ते सुनिश्चयम्। जिनाग्रे संस्थिता पंच जपन्ती सुनमस्कृतीः ॥६६॥
 कायोत्सर्गेण मेरोर्वा निश्चला सारचूलिका। सर्वथा भव्यजन्तूनां जिनभक्तिः फलप्रदा ॥६७॥
 अर्धरात्रौ ततस्तस्याः सारपुण्यप्रभावतः। चक्रेश्वरी महादेवी विष्टरस्य प्रकम्पनात् ॥६८॥
 समागत्य शुभे श्रीमज्जिनपादाब्जमानसे। किञ्चिन्मा कुरु चोद्वेगमहो मदनसुन्दरि ॥६९॥
 प्रातः संघश्रीदुर्मानमर्दनैकविचक्षणः। रथप्रभावनाकारी श्रीमज्जैनानामे चणः ॥७०॥
 नाना मनोरथानां ते पूरको दिव्यमूर्तिमान्। अत्राऽकलङ्कदेवाख्यस्तव पुण्यात्समेष्यति ॥७१॥
 इत्युक्त्वा सा गता भक्त्या तच्छ्रुत्वा च महीपतेः। सा राज्ञी परमानन्दनिर्भराभक्तितत्परा ॥७२॥
 महास्तुतिं जिनेन्द्राणां कृत्वा सद्वाञ्छितप्रदाम्। प्रातर्महाभिषेकं च विधायोच्चैस्तथार्चनम् ॥७३॥

के पास फुंकार कर रहा है और कहते हैं कि गारुड़ी दूर है। भला, इससे क्या सिद्धि हो सकती है? अस्तु! जान पड़ा कि आप लोग इस विपत्ति का सद्यः प्रतिकार नहीं कर सकते। दैव को जिनधर्म का पतन कराना ही इष्ट मालूम देता है। जब मेरे पवित्र धर्म की दुर्दशा होगी, तब मैं ही जीकर क्या करूँगी? यह कहकर महारानी राजमहल से अपना सम्बन्ध छोड़कर जिनमन्दिर गई और उसने यह दृढ़ प्रतिज्ञा की—“जब संघश्री का मिथ्याभिमान चूर्ण होकर मेरा रथोत्सव बड़े ठाठ-बाट के साथ निकलेगा और जिनधर्म की खूब प्रभावना होगी, तब ही मैं भोजन करूँगी, नहीं तो वैसे ही निराहार रहकर मर मिटूँगी; पर अपनी आँखों से पवित्र जैनशासन की दुर्दशा कभी नहीं देखूँगी।” ऐसा हृदय में निश्चय कर मदनसुन्दरी जिन भगवान् के सन्मुख कायोत्सर्ग धारण कर पंच नमस्कार मंत्र की आराधना करने लगी। उस समय उसकी ध्यान निश्चय अवस्था बड़ी ही मनोहर दीख पड़ती थी। मानों सुमेरु गिरि की श्रेष्ठ निश्चल चूलिका हो। “भव्यजीवों को जिनभक्ति का फल अवश्य मिलता है।” इस नीति के अनुसार महारानी भी उससे वंचित नहीं रही। महारानी के निश्चय ध्यान के प्रभाव से पद्मावती का आसन कंपित हुआ ॥५६-६७॥

वह आधी रात के समय आई और महारानी से बोली—देवी, जब तुम्हारे हृदय में जिन भगवान् के चरण कमल शोभित हैं, तब तुम्हें चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नहीं। उनके प्रसाद से तुम्हारा मनोरथ नियम से पूर्ण होगा। सुनो, कल प्रातःकाल ही अकलंकदेव इधर आएँगे, वे जैनधर्म के बड़े भारी विद्वान् हैं। वे ही संघश्री का दर्प चूर्णकर जिनधर्म की खूब प्रभावना करेंगे और तुम्हारा रथोत्सव का कार्य निर्विघ्न समाप्त करेंगे। उन्हें अपने मनोरथों के पूर्ण करने वाले मूर्तिमान् शरीर समझो। यह कहकर पद्मावती अपने स्थान चली गई ॥६८-७२॥

देवी की बात सुनकर महारानी अत्यन्त प्रसन्न हुई उसने बड़ी भक्ति के साथ जिनभगवान् की स्तुति की और प्रातःकाल होते ही महाभिषेकपूर्वक पूजा की। इसके बाद उसने अपने राजकीय

ततोऽकलङ्कदेवस्य समन्वेषणहेतवे। चतुर्दिक्षु सती शीघ्रं प्रेषयामास सन्नरान् ॥७४॥
तन्मध्ये ये गतास्तत्र पूर्वस्यां दिशि पौरुषाः। तैरुद्यानवनेऽशोकवृक्षमूलेऽकलङ्काक् ॥७५॥
कैश्चिच्छत्रैः समायुक्तः कुर्वन्विश्रामकं सुखम्। दृष्टोऽसौ सर्वशास्त्रज्ञः पृष्ठैकं छात्रकं ततः ॥७६॥
तन्नामापि समागत्य सर्वं राज्या निवेदितम्। ततो राज्ञी महाभूत्या सर्वसङ्घसमन्विता ॥७७॥
यानजंपानसङ्घानसमेता धर्मवत्सला। तत्रागत्य लसत्प्रीत्या वन्दितः स बुधोत्तमः ॥७८॥
तस्य सन्दर्शनात्तुष्टा सा सती शुद्धमानसा। पद्मिनीव रवेर्मैधा मुनेर्वा तत्त्वदर्शनात् ॥७९॥
चन्दनागुरुकर्पूरैर्नानावस्त्रादिभिस्तराम्। पूजयामास तं राज्ञी बुधं धर्मानुरागतः ॥८०॥
ततः स प्राह पूतात्मा विद्वज्जनशिरोमणिः। भो देवि भवतां क्षेमः सङ्घस्यापि प्रवर्तते ॥८१॥
तं निशम्याश्रुपातं च राज्या कुर्वाणया पुनः। स्वामिन्सन्तिष्ठते सङ्घः किन्तु तस्यापमानता ॥८२॥
वर्तते साम्प्रतं चेति तया प्रोक्त्वा समग्रतः। सङ्घश्रीचेष्टितं तस्य सूचितं चारुचेतसः ॥८३॥
तदाकर्ण्यकलङ्काख्यः कोपतः किल संजगौ। कियन्मात्रो वराकोऽयं सङ्घश्रीर्यन्मया समम् ॥८४॥
वादं कर्तुं समर्थो न सुगतोपि मदोद्धतः। इति प्रव्यक्तसद्वाक्यैस्तां सन्तोष्य समग्रधीः ॥८५॥
वन्दकयोच्चैर्दत्त्वा पत्रं महोत्सवैः। सम्प्राप्तः श्रीजिनेन्द्रस्य मन्दिरं शर्ममन्दिरम् ॥८६॥

प्रतिष्ठित पुरुषों को अकलंकदेव को ढूँढ़ने को चारों ओर दौड़ाया। उनमें जो पूर्व दिशा की ओर गए थे, उन्होंने एक बगीचे में अशोक वृक्ष के नीचे बहुत से शिष्यों के साथ एक महात्मा को बैठे देखा। उनके किसी एक शिष्य से महात्मा का परिचय और नाम धाम पूछकर वे अपनी मालकिन के पास आए और सब हाल उन्होंने उससे कह सुनाया सुनकर ही वह धर्मवत्सला खानपान आदि सब सामग्री लेकर अपने साधर्मियों के साथ बड़े वैभव से महात्मा अकलंक के सामने गई, वहाँ पहुँच कर उसने बड़े प्रेम और भक्ति से उन्हें प्रणाम किया। उनके दर्शन से रानी को अत्यन्त आनन्द हुआ। जैसे सूर्य को देखकर कमलिनी को और मुनियों का तत्त्वज्ञान देखकर बुद्धि को आनन्द होता है। इसके बाद रानी ने धर्मप्रेम के वश होकर अकलंकदेव की चन्दन, अगुरु, फल, फूल, वस्त्रादि से बड़े विनय के साथ पूजा की और पुनः प्रणाम कर वह उनके सामने बैठ गई, उसे आशीर्वाद देकर पवित्रात्मा अकलंक बोले—देवी, तुम अच्छी तरह तो हो और सब संघ भी अच्छी तरह है न? महात्मा के वचनों को सुनकर रानी की आँखों से आँसू बह निकले, उसका गला भर आया। वह बड़ी कठिनता से बोली—प्रभो, संघ है तो कुशल, पर इस समय उसका घोर अपमान हो रहा है; उसका मुझे बड़ा कष्ट है। यह कहकर उसने संघश्री का सब हाल अकलंक से कह सुनाया। पवित्र धर्म का अपमान अकलंक न सह सके। उन्हें क्रोध हो आया। वे बोले—वह वराक संघश्री मेरे पवित्र धर्म का अपमान करता है, पर वह मेरे सामने है कितना, इसकी उसे खबर नहीं है। अच्छा देखूँगा उसके अभिमान को कि वह कितना पाण्डित्य रखता है। मेरे साथ खास बुद्ध तक तो शास्त्रार्थ करने की हिम्मत नहीं रखता, तब वह बेचारा किस गिनती में है? इस तरह रानी को सन्तुष्ट करके अकलंक ने संघश्री के शास्त्रार्थ के विज्ञापन की स्वीकारता उसके पास भेज दी और आप बड़े उत्सव के साथ जिनमन्दिर आ पहुँचे ॥७३-८६॥

सङ्घश्रिया तदालोक्य पत्रं क्षुभितचेतसः। भिन्नमकारि महापत्रं श्रुत्वा तद्गर्जनाक्रमम् ॥८७॥
 तदाकलङ्कदेवोऽसौ हिमशीतलभूभुजा। सम्भ्रमेण समानीय वादं तेनैव कारितः ॥८८॥
 सङ्घश्रिया महावादं तेन सार्धं प्रकुर्वता। नाना प्रत्युत्तरैर्दृष्ट्वा तस्य वाग्विभवं नवम् ॥८९॥
 अशक्तिं चात्मनो ज्ञात्वा ये केचिद्वैद्वपण्डिताः। देशान्तरे स्थिताः सर्वास्तान्समाहूय गर्वितान् ॥९०॥
 पूर्वसिद्धां तथा देवीं ताराभगवतीं निशि। तदावतार्य तेनोक्तं समर्थोऽहं न सुन्दरि ॥९१॥
 वादं कर्तुमनेनैव सार्धं देवि तया द्रुतम्। एष वादेन कर्तव्यो निग्रहस्थानभाजनम् ॥९२॥
 इत्याकर्ण्य तया प्रोक्तं सभायां भूपतेर्मया। अन्तःपटे घटे स्थित्वा विवादः क्रियते पुनः ॥९३॥

पत्र संघश्री के पास पहुँचा। उसे देखकर और उसकी लेखन शैली को पढ़कर उसका चित्त क्षुभित हो उठा। आखिर उसे शास्त्रार्थ के लिए तैयार होना ही पड़ा ॥८७॥

अकलंक के आने के समाचार महाराज हिमशीतल के पास पहुँचे। उन्होंने उसी समय बड़े आदर सम्मान के साथ उन्हें राजसभा में बुलवाकर संघश्री के साथ उनका शास्त्रार्थ कराया। संघ श्री उनके साथ शास्त्रार्थ करने को तो तैयार हो गया, पर जब उसने अकलंक के प्रश्नोत्तर करने का पाण्डित्य देखा और उससे अपनी शक्ति की तुलना की, तब उसे ज्ञान हुआ कि मैं अकलंक के साथ शास्त्रार्थ करने में असक्त हूँ, पर राजसभा में ऐसा कहना भी उसने उचित न समझा क्योंकि उससे उसका अपमान होता। तब उसने एक नई युक्ति सोचकर राजा से कहा—महाराज, यह धार्मिक विषय है, इसका निर्णय होना कठिन है। इसलिए मेरी इच्छा है कि यह शास्त्रार्थ सिलसिलेवार तब तक चलना चाहिए जब तक कि एक पक्ष पूर्ण निरुत्तर न हो जाये। राजा ने अकलंक की अनुमति लेकर संघश्री के कथन को मान लिया। उस दिन का शास्त्रार्थ बन्द हुआ। राजसभा भंग हुई ॥८८-८९॥

अपने स्थान पर आकर संघ श्री ने जहाँ-जहाँ बौद्धधर्म के विद्वान् रहते थे, उनको बुलवाने को अपने शिष्यों को दौड़ाया और स्वयं ने रात्रि के समय अपने धर्म की अधिष्ठात्री देवी की आराधना की। देवी उपस्थित हुई संघश्री ने उससे कहा—देखती हो, धर्म पर बड़ा संकट उपस्थित हुआ है। उसे दूरकर धर्म की रक्षा करनी होगी। अकलंक बड़ा पंडित है। उसके साथ शास्त्रार्थ कर विजय प्राप्त करना असम्भव था इसीलिए मैंने तुम्हें कष्ट दिया है। यह शास्त्रार्थ मेरे द्वारा तुम्हें करना होगा और अकलंक को पराजित कर बुद्धधर्म की महिमा प्रकट करनी होगी। बोलो, क्या कहती हो? उत्तर में देवी ने कहा—हाँ, मैं शास्त्रार्थ करूँगी सही, पर खुली सभा में नहीं; किन्तु परदे के भीतर घड़े में रहकर। ‘तथास्तु’ कहकर संघश्री ने देवी को विसर्जित किया और आप प्रसन्नता के साथ दूसरी निद्रा देवी की गोद में जा लेटा ॥९०-९३॥

प्रातःकाल हुआ। शौच, स्नान, देवपूजन आदि नित्य कर्म से छुट्टी पाकर संघश्री राजसभा में पहुँचा और राजा से बोला—महाराज, हम आज से शास्त्रार्थ परदे के भीतर रहकर करेंगे। हम शास्त्रार्थ के समय किसी का मुँह नहीं देखेंगे। आप पूछेंगे क्यों? इसका उत्तर अभी न देकर शास्त्रार्थ के अन्त

ततः प्रभाते भूपाग्रे सङ्घश्रीः कपटेन च। अन्तःपटेन कस्यापि मुखं चापश्यता मया ॥१४॥
 विचित्रवाक्यविन्यासैरुपन्यासो विधीयते। इत्युक्त्वाऽन्तःपटं दत्वा बुद्धदेवार्चनं तथा ॥१५॥
 तद्व्याश्रितार्चनं कृत्वा चक्रे कुम्भावतारणम्। करोति केतवं मूढो नास्त्येवान्तेनुसिद्धिदम् ॥१६॥
 ततो घटं प्रविश्योच्चैः सा देवी दिव्यवाग्भरैः। क्षणोपन्यासकं कर्तुं प्रवृत्ता निजशक्तितः ॥१७॥
 अथाकलङ्कदेवोऽपि दिव्यध्वनिविराजितः। कृत्वोपन्यासकं तस्याः खण्डखण्डं क्षणक्षयम् ॥१८॥
 अनेकान्तमतं पूतं सारतत्त्वैः समन्वितम्। स्वपक्षस्थापकं गाढं परपक्षक्षयप्रदम् ॥१९॥
 तत्समर्थयितुं लग्नः समर्थो भयवर्जितः। एवं तयोर्महावादैः षण्मासाः संययुस्तराम् ॥२०॥
 तदाकलङ्कदेवस्य मानसे निशि चाभवत्। चिन्तामानुषमात्रोऽयं वन्दको दासकोपमः ॥२०१॥
 एतावन्ति दिनान्येवं मया सार्धं करोत्यरम्। वादं किं कारणं चेति सचिन्तश्चतुरोत्तमः ॥२०२॥
 स श्रीमानकलङ्काख्यो यावदास्ते विचारवान्। तावच्चक्रेश्वरी देवी समागत्य सुपुण्यतः ॥२०३॥
 अहो धीमज्जिनेन्द्रोक्तसारतत्त्वविदाम्बर। अकलङ्कस्त्वया सार्धं वादं कर्तुं न भूतले ॥२०४॥
 समर्थो नरमात्रोऽसौ किन्तु वादं त्वया समम्। करोति तारिका देवी दिनान्येतानि धीधनः ॥२०५॥

में दिया जायेगा। राजा संघश्री के कपट जाल को कुछ नहीं समझ सके। उसने जैसा कहा वैसा उन्होंने स्वीकार कर उसी समय वहाँ एक परदा लगवा दिया। संघश्री ने उसके भीतर जाकर बुद्ध भगवान् की पूजा की और देवी की पूजा कर एक घड़े में आह्वान किया। धूर्त लोग बहुत कुछ छल कपट करते हैं, पर अन्त में उसका फल अच्छा न होकर बुरा ही होता है ॥१४-१६॥

इसके बाद घड़े की देवी अपने में जितनी शक्ति थी, उसे प्रकट कर अकलंक के साथ शास्त्रार्थ करने लगी। इधर अकलंकदेव भी देवी के प्रतिपादन किए हुए विषय का अपनी दिव्य भारती द्वारा खण्डन और अपने पक्ष का समर्थन तथा परपक्ष का खण्डन करने वाले परम पवित्र अनेकान्त-स्याद्वाद मत का समर्थन बड़े ही पाण्डित्य के साथ निडर होकर करने लगे। इस प्रकार शास्त्रार्थ होते-होते छह महीने बीत गए, पर किसी की विजय न हो पाई, यह देख अकलंकदेव को बड़ी चिन्ता हुई उन्होंने सोचा-संघश्री साधारण पढ़ा-लिखा और जो पहले ही दिन मेरे सम्मुख थोड़ी देर भी न ठहर सका था, वह आज बराबर छह महीने से शास्त्रार्थ करता चला आता है; इसका क्या कारण है, सो नहीं जान पड़ता। उन्हें इसकी बड़ी चिन्ता हुई पर वे कर ही क्या सकते थे। एक दिन इसी चिन्ता में डूबे हुए थे कि इतने में जिनशासन की अधिष्ठात्री चक्रेश्वरी देवी आई और अकलंकदेव से बोली-प्रभो! आपके साथ शास्त्रार्थ करने की मनुष्य मात्र में शक्ति नहीं है और बेचारा संघश्री भी तो मनुष्य है, तब उसकी क्या मजाल जो वह आपसे शास्त्रार्थ करे? पर यहाँ तो बात कुछ और ही है। आपके साथ जो शास्त्रार्थ करता है वह संघश्री नहीं है किन्तु बुद्धधर्म की अधिष्ठात्री तारा नाम की देवी है। इतने दिनों से वही शास्त्रार्थ कर रही है। संघश्री ने उसकी आराधना कर यहाँ बुलाया है। इसलिए कल जब शास्त्रार्थ होने लगे और देवी उस समय जो कुछ प्रतिपादन करे तब आप उससे उसी विषय का फिर से प्रतिपादन

अतः प्रातः समुत्थाय पूर्वोपन्यस्तं तद्वयः। व्याघुट्य पृच्छतां तस्या मानभङ्गे भविष्यति ॥१०६॥
 इत्युक्त्वा सा गता देवी ततः सोप्यकलङ्कवाक्। देवतादर्शनाज्जातपरमानन्दनिर्भरः ॥१०७॥
 प्रातर्गत्वा जिनं नत्वा सभायां दिव्यमूर्त्तिभाक्। क्रीडार्थं च प्रभावार्थं धर्मस्यैव जिनेशिनः ॥१०८॥
 दिनान्येतानि संचक्रे वादोऽनेन समं मया। अद्य वादं द्रुतं जित्वा भोजनं क्रियते ध्रुवम् ॥१०९॥
 उक्त्वेति स्पष्टसद्वाक्यैर्वादं कर्तुं समुद्यतः। उपन्यासं ततस्तस्याः कुर्वत्यास्तेन जल्पितम् ॥११०॥
 प्रागुक्तं कीदृशं वाक्यं तदस्माकं प्रकथ्यते। तदाकर्ण्यकलङ्कस्य वाक्यं हृत्क्षोभकारणम् ॥१११॥
 देवता वचनैकत्वादुत्तरं दातुमक्षमा। सूर्योदये निशेवाशु सा गता मानभङ्गतः ॥११२॥
 ततोऽकलङ्कदेवेन समुत्थायप्रकोपतः। अन्तःपटं विदार्योच्चैः स्फोटयित्वा च तं घटम् ॥११३॥
 महापादप्रहारेण हत्वा रूपं तु सौगतम्। मानभङ्गं तथा कृत्वा तेषां मिथ्याकुवादिनाम् ॥११४॥
 पुनर्मदनसुन्दर्या सम्प्राप्तानन्दसम्पदः। समस्तभव्यलोकानामग्रतः परया मुदा ॥११५॥
 गलगर्जितं विद्ययोच्चैस्तेनोक्तं चेति सोत्सवम्। अहो मया वराकोऽयं सङ्गुश्रीधर्मवर्जितः ॥११६॥

करने के लिए कहिए। वह उसे फिर न कह सकेगी और तब उसे अवश्य नीचा देखना पड़ेगा। यह कहकर देवी अपने स्थान पर चली गई, अकलंकदेव की चिन्ता दूर हुई वे बड़े प्रसन्न हुए ॥१०७-१०७॥

प्रातःकाल हुआ। अकलंकदेव अपने नित्यकर्म से मुक्त होकर जिनमन्दिर गए। बड़े भक्तिभाव से उन्होंने भगवान् की स्तुति की। इसके बाद वे वहाँ से सीधे राजसभा में आए। उन्होंने महाराज शुभतुंग को सम्बोधन करके कहा—राजन्! इतने दिनों तक मैंने जो शास्त्रार्थ किया, उसका यह मतलब नहीं था कि मैं संघश्री को पराजित नहीं कर सका परन्तु ऐसा करने से मेरा अभिप्राय जिनधर्म का प्रभाव बतलाने का था। वह मैंने बतलाया। पर अब मैं इस वाद का अन्त करना चाहता हूँ। मैंने आज निश्चय कर लिया है कि मैं आज इस वाद की समाप्ति करके ही भोजन करूँगा। ऐसा कहकर उन्होंने परदे की ओर देखकर कहा—क्या जैनधर्म के सम्बन्ध में कुछ और कहना बाकी है या मैं शास्त्रार्थ समाप्त करूँ? वे कहकर जैसे ही चुप रहे कि परदे की ओर से फिर वक्तव्य आरम्भ हुआ। देवी अपना पक्ष समर्थन करके चुप हुई कि अकलंकदेव ने उसी समय कहा—जो विषय अभी कहा गया है, उसे फिर से कहो? वह मुझे ठीक नहीं सुन पड़ा। आज अकलंक का यह नया ही प्रश्न सुनकर देवी का साहस एक साथ ही न जाने कहाँ चला गया। देवता जो कुछ बोलते वे एक ही बार बोलते हैं—उसी बात को वे पुनः नहीं बोल पाते। तारा देवी का भी यही हाल हुआ। वह अकलंकदेव के प्रश्न का उत्तर न दे सकी। आखिर उसे अपमानित होकर भाग जाना पड़ा। जैसे सूर्योदय से रात्रि भाग जाती है ॥१०८-११२॥

इसके बाद ही अकलंकदेव उठे और परदे को फाड़कर उसके भीतर घुस गए। वहाँ जिस घड़े में देवी का आह्वान किया गया था, उसे उन्होंने पाँव की ठोकर से फोड़ डाला। संघश्री सरीखे जिनशासन के शत्रुओं का, मिथ्यात्वियों का अभिमान चूर्ण किया। अकलंक की इस विजय और जिनधर्म की प्रभावना से मदनसुन्दरी और सर्वसाधारण को बड़ा आनन्द हुआ। अकलंक ने सब लोगों के सामने जोर देकर कहा—सज्जनों! मैंने इस धर्मशून्य संघश्री को पहले ही दिन पराजित कर दिया था

निर्जितः प्रथमे घस्त्रे किन्तु देव्यैतया समम्। श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्राणां मतोद्योतनहेतवे ॥११७॥
 संज्ञानोद्योतनार्थं च कृतो वादः स्वलीलया। एतदुक्त्वा महाकाव्यं स्वामिना पठितं स्फुटम् ॥११८॥
 “नाहंकारवशीकृतेन मनसा न द्वेषिणा केवलं। नैरात्म्यं प्रतिपद्य नश्यति जने कारुण्यबुद्ध्या मया।
 राज्ञः श्रीहिमशीतलस्य सदसि प्रायो विदग्धात्मनो बौद्धौघान्सकलान्विजित्य सुगतः पादेन विस्फालितः॥”
 तदा प्रभृति बौद्धास्ते नरेन्द्राद्यैर्निराकृताः। त्यक्त्वा देशं द्रुतं नष्टा खद्योता वा दिनागमे ॥११९॥
 एवं श्रीमज्जिनेन्द्राणां दृष्ट्वा ज्ञानप्रभावनाम्। हिमशीतलभूपाद्याः सर्वे ते भक्तिभारतः ॥१२०॥
 जिनधर्मरता भूत्वा त्यक्त्वा मिथ्यामतं द्रुतम्। नाना रत्नसुवर्णाद्यैः संस्तोत्रैः शर्मकारिभिः ॥१२१॥
 पूजयन्ति स्म तं पूतमकलङ्कं बुधोत्तमम्। श्रीमज्जिनेन्द्रसंज्ञानप्रभावात्के न पूजिताः ॥१२२॥
 तथा मदनसुन्दर्या महोत्सवशतै रथः। विचित्ररचनोपेतो लसत्पद्मशुक्लैर्वृतः ॥१२३॥
 संरणत्किङ्किणीजालो घण्टाटङ्गरशोभितः। त्रैलोक्यपूज्यजैनेन्द्रमहाबिम्बैः पवित्रितः ॥१२४॥
 नाना छत्रं वितानाद्यैश्चामराद्यैरलङ्कृतः। कनक्ताञ्चनसद्रत्नमुक्तामालाविराजितः ॥१२५॥
 अनेक भव्यलोकानां समन्ताज्जयघोषणैः। सम्पतत्कुसुमामोदैः सुगन्धीकृतदिङ्मुखः ॥१२६॥

किन्तु इतने दिन जो देवी के साथ शास्त्रार्थ किया, वह जिनधर्म का माहात्म्य प्रकट करने के लिए और सम्यग्ज्ञान का लोगों के हृदय पर प्रकाश डालने के लिए था। यह कहकर अकलंकदेव ने इस श्लोक को पढ़ा ॥११३-११८॥

अर्थात्-महाराज, हिमशीतल की सभा में मैंने सब बौद्ध विद्वानों को पराजित कर सुगत को ठुकराया, यह न तो अभिमान के वश होकर किया और न किसी प्रकार द्वेषभाव से किन्तु नास्तिक बनकर नष्ट होते हुए जनों पर मुझे बड़ी दया आई इसलिए उनकी दया से बाध्य होकर मुझे ऐसा करना पड़ा।

उस दिन से बौद्धों का राजा और प्रजा के द्वारा चारों ओर अपमान होने लगा। किसी की बुद्धधर्म पर श्रद्धा नहीं रही। सब उसे घृणा की दृष्टि से देखने लगे। यही कारण है बौद्ध लोग यहाँ से भागकर विदेशों में जा बसे ॥११९॥

महाराज हिमशीतल और प्रजा के लोग जिनशासन की प्रभावना देखकर बड़े खुश हुए। सबने मिथ्यात्व मत छोड़कर जिनधर्म स्वीकार किया और अकलंकदेव का सोने, रत्न आदि के अलंकारों से खूब आदर सम्मान किया, खूब उनकी प्रशंसा की। सच बात है जिन भगवान् के पवित्र सम्यग्ज्ञान के प्रभाव से कौन सत्कार का पात्र नहीं होता ॥१२०-१२२॥

अकलंकदेव के प्रभाव से जिनशासन का उपद्रव टला देखकर महारानी मदनसुन्दरी ने पहले से भी कई गुणे उत्साह से रथ निकलवाया। रथ बड़ी सुन्दरता के साथ सजाया गया था। उसकी शोभा देखते ही बन पड़ती थी। वह वेशकीमती वस्त्र था, छोटी-छोटी घंटियाँ उसके चारों ओर लगी हुई थी, उनकी मधुर आवाज एक बड़े घंटे की आवाज से मिलकर, जो कि उन घंटियों के ठीक बीच में था, बड़ी सुन्दर जान पड़ती थी, उस पर रत्नों और मोतियों की माला से अपूर्व शोभा दे रही थी, उसके

झल्लरीतालकंसालभेरीभम्भामृदङ्गकैः । पठत्पण्डितसन्दोहैश्चारणस्तुतिपाठकैः ॥१२७॥
 कामिनीगीतझङ्कारैर्नानानृत्यादिभिर्युतः । जङ्गमः पुण्यरत्नानां रोहणाद्रिरिवोद्गतः ॥१२८॥
 वस्त्राभरणसन्दोहैर्नाना ताम्बूलदानतः । स भव्यानां विभाति स्म पर्यटन्निव सुरद्रुमः ॥१२९॥
 वर्ण्यते स रथः केन यस्य दर्शनमात्रतः । अनेकदुर्दृशां चापि संजाता दर्शनश्रियः ॥१३०॥
 इत्यादि सम्पदासारै रथः पूर्णमनोरथः । सम्यक्चचाल तद्राज्ञ्या यशोराशिरिवापरः ॥१३१॥
 सोऽस्माकं भव्यजीवानां नाना शर्मशतप्रदः । नित्यं सम्भावितश्चित्ते दद्यात्सद्दर्शनश्रियम् ॥१३२॥
 यथाऽकलङ्कदेवोऽसौ चक्रे ज्ञानप्रभावनाम् । अन्येनापि सुभव्येन कर्तव्या सा सुखप्रदा ॥१३३॥
 स जयति जिनदेवो देवदेवेन्द्रवन्द्यस्त्रिभुवनसुखकारी यस्य बोधप्रदीपः ।
 गुणगणमणिरुद्रो बोधसिन्धुर्मुनीन्द्रो दिशतु मम शिवानि श्रीप्रभाचन्द्रदेवः ॥१३४॥
 इति कथाकोशे ज्ञानोद्योतिनी श्रीमदकलङ्कदेवस्य कथा समाप्ता ।

ठीक बीच में रत्नमयी सिंहासन पर जिनभगवान् की बहुत सुन्दर प्रतिमा शोभित थी। वह मौलिक छत्र, चामर, भामण्डल आदि से अलंकृत थी। रथ चलता जाता था और उसके आगे-आगे भव्य पुरुष बड़ी भक्ति के साथ जिनभगवान् की जय बोलते हुए और भगवान् पर अनेक प्रकार के सुगन्धित फूलों की, जिनकी महक से सब दिशाएँ सुगन्धित होतीं थीं, वर्षा करते चले जाते थे। चारणलोग भगवान् की स्तुति पढ़ते जाते थे। कुल कामिनियाँ सुन्दर-सुन्दर गीत गाती जाती थीं। नर्तकियाँ नृत्य करती जातीं थीं। अनेक प्रकार के बाजों का सुन्दर शब्द दर्शकों के मन को अपनी ओर आकर्षित करता था। इन सब शोभाओं से रथ ऐसा जान पड़ता था, मानों पुण्यरूपी रत्नों के उत्पन्न करने को चलने वाला वह एक दूसरा रोहण पर्वत उत्पन्न हुआ है। उस समय जो याचकों को दान दिया जाता था, वस्त्राभूषण वितीर्ण किए जाते थे, उससे रथ की शोभा एक चलते हुए कल्पवृक्ष की सी जान पड़ती थी। हम रथ की शोभा का कहाँ तक वर्णन करें? आप इसी से अनुमान कर लीजिए कि जिसकी शोभा को देखकर ही बहुत से अन्यधर्मी लोगों ने जब सम्यग्दर्शन ग्रहण कर लिया, तब उसकी सुन्दरता का क्या ठिकाना है? इत्यादि दर्शनीय वस्तुओं से सजाकर रथ निकाला गया, उसे देखकर यही जान पड़ता था, मानों महादेवी मदनसुन्दरी की यशोराशि ही चल रही है। वह रथ भव्य-पुरुषों के लिए सुख को देने वाला था। उस सुन्दर रथ की हम प्रतिदिन भावना करते हैं, उसका ध्यान करते हैं। वह हमें सम्यग्दर्शनरूपी लक्ष्मी प्रदान करें ॥१२३-१३२॥

जिस प्रकार अकलंकदेव ने सम्यग्ज्ञान की प्रभावना की, उसका महत्त्व सर्व साधारण लोगों के हृदय पर अंकित कर दिया उसी प्रकार और-और भव्य पुरुषों को भी उचित है कि वे भी अपने से जिस तरह बन पड़े जिनधर्म की प्रभावना करें, जैनधर्म के प्रति उनका जो कर्तव्य है उसे वे पूरा करें। संसार में जिनभगवान् की सदा जय हो, जिन्हें इन्द्र, धरणेन्द्र नमस्कार करते हैं और जिनका ज्ञानरूपी प्रदीप सारे संसार को सुख देने वाला है। श्रीप्रभाचन्द्र मुनि मेरा कल्याण करें, जो गुण रत्नों के उत्पन्न होने के स्थान पर्वत हैं और ज्ञान के समुद्र हैं ॥१३३-१३४॥

३. सनत्कुमारचक्रवर्तिनः कथा

नत्वा पञ्च गुरून्भक्त्या स्वर्गमोक्षसुखप्रदान्। चारित्रद्योतने वच्मि चरित्रं तुर्यचक्रिणः ॥१॥
 अत्रैव भरतक्षेत्रे वीतशोकपुरे प्रभुः। अभूदनन्तवीर्याख्यो राज्ञी सीताऽभिधा सती ॥२॥
 पुत्रः सनत्कुमारोऽभूत्तयोः सत्पुण्यपाकतः। चतुर्थश्चक्रवर्तीशः सम्यग्दृष्टिशिरोमणिः ॥३॥
 षट्खण्डमण्डितां पृथ्वीं संसाध्यैव शुभोदयात्। निधानैर्नवभी रत्नैश्चतुर्दशभिरुत्तमैः ॥४॥
 गजैश्चतुरशीत्युक्तलक्षैर्दक्षो विराजितः। रथैस्तावत्प्रमाणैश्च नित्यं पूर्णमनोरथैः ॥५॥
 अश्वैरष्टादशोत्कृष्टैः कोटिभिर्मर्मभूषितैः। भटैश्चतुरशीत्युक्तकोटिभिः शस्त्रपाणिभिः ॥६॥
 ग्रामैः षण्णवतिप्रोक्तकोटिभिर्धान्यसम्भृतैः। स्त्रीणां षण्णवतिप्राप्तसङ्ख्यानैश्च सहस्रकैः ॥७॥
 लसद्रत्नकिरीटाद्यैर्नरेन्द्राणां सहस्रकैः। द्वात्रिंशद्गणनोपेतैर्नित्यं सेवाविधायिभिः ॥८॥
 इत्यादिसम्पदासारैर्देवविद्याधरैः श्रितः। रूपलावण्यसौभाग्यमहाभाग्यैः समन्वितः ॥९॥
 कुर्वन्राज्यं महाप्राज्यं यावदास्ते विचक्षणः। श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्राणां धर्मकर्मपरायणः ॥१०॥
 तावत्सौधर्मकल्पेशः स्वकीये सदसि स्थितः। पुरुषस्य लसद्रूपगुणव्यावर्णनां पराम् ॥११॥
 प्रकुर्वाणः सुरैः पृष्टो देव किं कोपि वर्तते। उक्तप्रकाररूपश्रीर्भरतक्षेत्रके न वा ॥१२॥

३. सनत्कुमार चक्रवर्ती की कथा

स्वर्ग और मोक्ष सुख के देने वाले श्री अर्हत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुओं को नमस्कार करके मैं सम्यक्चारित्र का उद्योत करने वाले चौथे सनत्कुमार चक्रवर्ती की कथा लिखता हूँ ॥१॥

अनन्तवीर्य भारतवर्ष के अन्तर्गत वीतशोक नामक शहर के राजा थे। उनकी महारानी का नाम सीता था। हमारे चरित्रनायक सनत्कुमार इन्हीं के पुण्य के फल थे। वे चक्रवर्ती थे। सम्यग्दृष्टियों में प्रधान थे। उन्होंने छहों खण्ड पृथ्वी अपने वश में कर ली थी। उनकी विभूति का प्रमाण ऋषियों ने इस प्रकार लिखा है—नवनिधि, चौदहरत्न, चौरासी लाख हाथी, इतने ही रथ, अठारह करोड़ घोड़े, चौरासी करोड़ शूरवीर, छ्यानवें करोड़ धान्य से भरे हुए ग्राम छ्यानवें हजार सुन्दरियाँ और सदा सेवा में तत्पर रहने वाले बत्तीस हजार बड़े-बड़े राजा इत्यादि संसार श्रेष्ठ संपत्ति से वे युक्त थे। देव विद्याधर उनकी सेवा करते थे। वे बड़े सुन्दर थे, बड़े भाग्यशाली थे। जिनधर्म पर उनकी पूर्ण श्रद्धा थी। वे अपना नित्य-नैमित्तिक कर्म श्रद्धा के साथ करते, कभी उनमें विघ्न नहीं आने देते। इसके सिवा अपने विशाल राज्य का वे बड़ी नीति के साथ पालन करते और सुखपूर्वक दिन व्यतीत करते ॥२-१०॥

एक दिन सौधर्म स्वर्ग का इन्द्र अपनी सभा में पुरुषों के रूप सौन्दर्य की प्रशंसा कर रहा था। सभा में बैठे हुए एक विनोदी देव ने उनसे पूछा—प्रभो! जिस रूप गुण की आप बेहद तारीफ कर रहे हैं, भला, ऐसा रूप भारतवर्ष में किसी का है भी या केवल यह प्रशंसा ही मात्र है? ॥११-१२॥